मंटो : सियासत के अधूरे अफ़साने

हिलाल अहमद

यह लेख सआदत हसन मंटो की कहानियों में निहित बौद्धिक राजनीति के अर्थग्रहण की एक शुरुआती कोशिश है। चूँकि इस विषय पर अभी विस्तृत और व्यवस्थित अध्ययन होना बाक़ी है, इसलिए पाठकों को लेख में दी गयी दलीलों का दायरा बेहद सीमित लगेगा। हिलाल अहमद का ख़याल है कि मंटो अपनी राजनीति की कोई व्याख्या करने की ज़हमत उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें पता है कि अफ़सानानिग़ारी में इतनी ताक़त होती है कि वह अपनी सियासत ख़ुद रच सके। इसलिए ज़रूरी है कि मंटो से उनकी सियासत पूछने की आदत त्याग कर हम उसकी कृतियों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें और देखें कि सियासत का अफ़साना कितनी ज़ुबानों में और कितने लहज़ों में लिखा, सुना और पढ़ा जा सकता है। मंटो की कहानियों में तर्क के स्थान, उसके प्रस्तुतीकरण और विधा के साथ उसके विरोधाभास को हमारे विश्लेषण में अवधारणात्मक औज़ार की तरह इस्तेमाल किया गया है, और इसका संबंध हमारी अपनी समझ तक सीमित है। लेकिन यह औज़ार हमें संगठन आधारित राजनीति और बौद्धिक राजनीति के बीच अंतर करने में सहायता प्रदान कर सकता है।

I

मसला यह है ...

मंटो के लेखन और राजनीति का रिश्ता ऐसा विषय है जिस पर काफ़ी कुछ लिखा जा चुका है। मंटो का वामपंथ के प्रति रुझान, मंटो की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति और यहाँ तक कि मंटो का देह-विमर्श इस तथ्य के परिचायक हैं कि मंटो के लेखन में राजनीति की एक केंद्रीय भूमिका है।[1] इस लेख का उद्देश्य न तो मंटो के विस्तृत साहित्य का पुनरावलोकन करना है, और न ही मैं मंटो की विचारधारात्मक राजनीति की कोई नयी समझ प्रस्तुत करने का दावा करना चाहता हूँ। इससे अलग हटते हुए मेरा मक़सद मंटो-विरोधियों और मंटो- समर्थकों के बीच चल रही नज़रियाती बहसों से किनारा करते हुए सआदत हसन मंटो की कहानियों में गुँथी हुई बौद्धिक राजनीति की एक सिलसिलेवार विवेचना करना है।[2] यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि मैं राजनीति की कोई सर्वमान्य व्याख्या या परिभाषा लेकर नहीं चल रहा हूँ। मेरी दिलचस्पी इस बात में ज़्यादा है कि आख़िर जिस प्रक्रिया को हम राजनीति कहते हैं, उसका इस्तेमाल मंटो के लेखन में कैसे हुआ है।

मेरा मत है कि विश्लेषण के दृष्टिकोण से मंटो की कहानियों में राजनीति के दो सम्भव अर्थ निकाले जा सकते है। पहले अर्थों में राजनीति से मेरा तात्पर्य कहानी के परिवेश में चल रही वे गतिविधियाँ हैं जो सीधे तौर पर राजनीतिक कही जा सकती हैं। मंटो की विभाजन पर लिखी गयी कहानियाँ इस तरह के लेखन का एक सटीक उदाहरण है। इन कहानियों में राष्ट्र, समुदाय और भौगोलिकता को केंद्र में रख कर कथानक की रचना की गयी है।

मंटो के लेखन में राजनीति के दूसरे मायने थोड़े से जटिल हैं जो हमें उन प्रक्रियाओं से परिचित कराते हैं जिनके ज़रिये सामाजिक वास्तविकताएँ अपने बहुआयामी स्वरूपों से निकल कर कहानी की

---

[1] मैं सेंटर के अपने सहयोगियों विशेषकर अभय कुमार दुबे, रविकांत, आदित्य निगम, शैल मायाराम, राकेश पाण्डेय, धीरूभाई शेठ, अवधेंद्र शरण और योगेंद्र यादव का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस विषय पर सोचने, पढ़ने और लिखने के लिए प्रेरित ही नहीं किया, बल्कि लेख के कई मसविदों पर अपने सुझावों और आलोचनाओं से मुझे लाभान्वित भी किया. मैं रक्षंदा जलील, अजित कुमार चौधरी और निवेदिता मेनन द्वारा की गयी हौसलाअफ़ज़ाई का भी शुक्रगुज़ार हूँ.

मंटो की राजनीति पर मौजूद लेखन को मूलत: दो श्रेणियों में रख कर देखा जा सकता है। पहली श्रेणी का लेखन उस दौर का है जब साहित्य को समाज बदलने का माध्यम माना जाता था। उस दौर में साहित्य का मूल्यांकन लेखक के विचारधारात्मक झुकाव के आधार पर होता था। लेखक की राजनीति की परख उसकी विचारधारा से होती थी ताकि उसे विचारधाराओं के तयशुदा खानों में सदा के लिए स्थापित कर दिया जा सके। इस तरह के पैमानों से मंटो की राजनीति को भी तय करने की कई कोशिशें हुईं. मंटो को कभी *कामरेड मंटो* कहा गया तो कभी अश्लील अफ़सानानिग़ार और प्रतिक्रियावादी. इस तरह मंटो की राजनीति एक ऐसी पहेली बन गयी जिसके लिए विचारधाराओं में बँधे अकादमिक विमर्श के पास कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं थी. विस्तार के लिए देखें, सज्ज़ाद ज़हीर (1981), *रोशनाई का सफ़र,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली; मंटो की राजनीति पर लेखन का दूसरा सिलसिला हाल के वर्षों में शुरू हुआ है। इतिहास लेखन के सबाल्टर्न स्कूल ने न केवल मंटो को एक उर्दू लेखक की छवि से निकाल कर एक सामाजिक विश्लेषक और चिंतक के रूप में स्थापित किया बल्कि उनके लेखन की सूक्ष्म और बहुआयामी व्याख्या भी पेश की. इस तरह के लेखन में मंटो की राजनीति की अपनी जटिलताओं को उभारने की कोशिश हुई ताकि मंटो को स्थापित विचारधाराओं से निकाल कर उन्हें राष्ट्र और समुदाय जैसी राजनीतिक अवधारणाओं के बरक्स समझा जा सके. भारत विभाजन पर होने वाले शोध ने मंटो की इस चिंतक वाली छवि को और स्थायित्व दिया। नतीजा यह हुआ कि जिस मंटो की राजनीति को समझने से अब तक साहित्यकार और समाजशास्त्री गुरेज़ करते चले आ रहे थे, वही राजनीति अब अध्ययन की जटिल विषयवस्तु बन गयी। आमिर मुफ़्ती का लेख मंटो के लेखन पर बदलते बौद्धिक विमर्श का सटीक उदाहरण है। देखें, अमीर मुफ़्ती (2000), 'ए ग्रेटर स्टोरी राइटर देन गॉड : जॉनर, जेंडर, ऐंड मॉडर्निटी इन लेट कोलोनियल इंडिया', पार्थ चटर्जी और प्रदीप जगन्नाथन (सम्पा.), *सबाल्टर्न स्टडीज़ XI : कम्युनिटीज़, जेंडर ऐंड वायलेंस,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

[2] मंटो की कहानियों के सभी संदर्भों के लिए देखें : सआदत हसन मंटो (1993), *दस्तावेज़,* खण्ड 1, 5, राजकमल, दिल्ली.

यह पूछा जा सकता है कि वास्तविकता से कहानी तक के इस लेखकीय सफ़र को राजनीति क्यों कहा जाना चाहिए? मैं इस प्रश्न में निहित आक्षेप से आंशिक तौर पर सहमत होते हुए भी यथार्थ और कहानी के इस रिश्ते को राजनीतिक ही कहना चाहूँगा।

शक्ल लेती हैं। राजनीति की इस अवधारणा में वे बौद्धिक प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं जिनके ज़रिये सामाजिक वास्तविकताओं को वस्तुनिष्ठ बनाते हुए प्रतीकों, बिम्बों और सिद्धांतों की अवधारणाओं में पिरो कर व्याख्यायित किया जाता है। इस तरह सामाजिक विमर्श के बरक्स एक अकादमीय विमर्श की रचना होती है।[3] मंटो की कहानियों में पात्रों का चयन, परिवेश का चयन और कहानी के अंत में किसी भी निर्णायक सच या आदर्श से बचते हुए यथार्थ की जटिलता से पाठक को रूबरू कराने की कला राजनीति के इस अर्थ को नुमायाँ करती है। यह लेख मंटो की कहानियों से उपजी इसी बौद्धिक राजनीति पर केंद्रित है।

कहानी क्यों कर सियासी हो?

यह पूछा जा सकता है कि वास्तविकता से कहानी तक के इस लेखकीय सफ़र को राजनीति क्यों कहा जाना चाहिए? मैं इस प्रश्न में निहित आक्षेप से आंशिक तौर पर सहमत होते हुए भी यथार्थ और कहानी के इस रिश्ते को राजनीतिक ही कहना चाहूँगा। मेरा मत है कि जब लेखक/लेखिका वास्तविकता के किसी एक ख़ास पहलू को केंद्र में रख कर कहानी रचता/रचती है, तब वह ख़ास पहलू ऐसा नज़रिया बन जाता है जिसके ज़रिये कहानी में रची गयी वास्तविकता की व्याख्या होती चली जाती है।[4]

उदाहरण के लिए मंटो की मशहूर कहानी *बू* को लिया जा सकता है। इस कहानी के केंद्र में जिस्मानी रिश्तों का विमर्श है। मंटो जिस्मानी रिश्तों के नज़रिये से वास्तविकता के एक ऐसे पहलू को छूते हैं जिस पर आज भी खुल कर चर्चा करना अश्लीलता मानी जाती है। कहानी एक ऐसे उच्चवर्गीय व्यक्ति रंधीर की है जो अपनी अय्याश ज़िंदगी से बोर हो चुका है। एक दिन उसकी मुलाक़ात बारिश में भीग रही एक निम्नवर्गीय घाटन लड़की से होती है। दोनों के बीच जिस्मानी रिश्ता बनता है। लड़की के शरीर से आ रही बू रंधीर पर अजब प्रभाव डालती है। वह तय नहीं कर पाता कि इस बू को अच्छा कहे या बुरा। यहाँ तक कि रंधीर अपनी सुंदर पत्नी के शरीर में भी उसी *बू* की तलाश करता है। इस कहानी को पढ़ने के कई तरीक़े हो सकते हैं। लेकिन हमारे लिए कहानी का मुख्य बिंदु जिस्मानी रिश्तों का बेहद संवेदनशील पहलू *बू* है जिसके ज़रिये से मंटो उस 'वास्तविकता' को समझने की कोशिश करता है, जिसमें हम सभी रहते हैं।[5] इस तरह *बू* को कथानक का केंद्र-बिंदु बना कर मंटो

---

[3] मेरा मत है कि साहित्य और समाज-विज्ञान दोनों ही इस अकादमिक विमर्श का अभिन्न अंग हैं। यह तथ्य आज के संदर्भों में और भी प्रासंगिक हो गया है, क्योंकि अब समाज-विज्ञान अपने को *वैज्ञानिक* होने के दम्भ से मुक्त करने के प्रयास में है और साहित्य अपने को काल्पनिक और गैर-काल्पनिक विधाओं के झमेले से निकालने की जद्दोजहद में है। यही कारण है कि साहित्य को समाज-विज्ञान ने शोध का स्रोत बना लिया है, वहीं साहित्यिक विधाओं में समाज-विज्ञान की तकनीकों का इस्तेमाल शुरू हो चुका है।

[4] इस तर्क के विस्तार के लिए देखें, शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2009), *द ट्रुथ ऑफ़ फिक्शंस,* (गोपीनाथ मोहंती मेमोरियल लेक्चर, भुवनेश्वर), नयी दिल्ली.

[5] वास्तविकता से मेरा आशय उस अवस्था से है, जिसे *सत्य, भौतिकता,* और *अस्तित्व* जैसी संज्ञाओं के साथ जोड़ कर या इन संज्ञाओं के पर्यायवाची शब्द के तौर पर प्रयोग किया जाता है। वास्तिवकता और विचार के संबंध, दर्शन— विशेषकर

पाठक को उसकी अपनी ही वास्तविकता से परिचित कराता है। वास्तविकताओं के इन दो स्वरूपों— कहानी में रची गयी वास्तविकता और पाठक/लेखक के साक्षात अनुभव, जिन्हें वे वास्तविकता मानते है, के बीच का विमर्श और विरोधाभास, मेरे ख़याल से राजनीति के रूप में समझा जा सकता है।[6]

अब सवाल यह है कि मंटो की कहानियों के शिल्प में मौजूद राजनीति को कैसे समझा जाए? दूसरे शब्दों में कहें तो क्या कहानी की अंदरूनी बुनावट में ऐसा कुछ है जिससे बौद्धिक राजनीति बनती है? इस बुनियादी सवाल का विश्लेषण करने के लिए मैं मंटो की दो कहानियों 1919 की एक बात और नया क़ानून की चर्चा करूँगा। इन दोनों कहानियों के चुनाव के पीछे बुनियादी मक़सद यह है कि कथानक की राजनीतिक पृष्ठभूमि और कहानी के तर्क को प्रस्तुत करने की विधा के बीच अंतर साफ़ किया जा सके और राजनीति के जिस मायने को जानने की कोशिश इस लेख में की जा रही है, वह स्पष्ट हो सके। मेरा मत है कि इस प्रक्रिया से विश्लेषण का विस्तार सीमित किए जाने की सुविधा भी सम्भव है।

II

कल्पना की राजनीति : नया क़ानून

यह कहानी ताँगा चलाने वाले कोचवान मंगू की है जो अपने आस-पास की दुनिया और उसमें होने वाले बदलावों के बारे में सजग है। मंगू इन बदलावों के इर्द-गिर्द एक काल्पनिक दुनिया रच लेता है। काल्पनिक दुनिया और वास्तविकता दुनिया में टकराव होता है जिसके परिणामस्वरूप मंगू के काल्पनिक तर्क और राजनीतिक विश्वास बिखर जाते हैं। मेरे दृष्टिकोण से कहानी में ऐसे तीन निर्णायक क्षण हैं जो औपनिवेशिक राजनीतिक संस्थाओं के आधारभूत सिद्धांतों और आज़ादी, स्वराज और अवामी

आधुनिक पश्चिमी दर्शन— का केंद्र बिंदु रहे हैं। अक्सर पूछा जाता रहा है कि जो कुछ भी हम अपनी इंद्रियों से अनुभव करते हैं वह वास्तविकता है या फिर वास्तविकता का विचार. इस बहस से कई अन्य ज्ञान शाखाएँ उत्पन्न हुई हैं. बहस की एक शाखा हमें भाषा-दर्शन और विमर्श-विश्लेषण की तरफ ले जाती है. इसी तरह अस्तित्ववाद की विवेचना का आधार भी वास्तविकता की बहस ही रही है. मेरा उद्देश्य इन बहसों को उद्धृत करना नहीं है. मैं यह दर्शाना चाहता हूँ कि जिस अवस्था को हम आम बातचीत में वास्तविकता कहते हैं, वह एक अत्यंत विरोधाभासी अवधारणा है जिसके कई संभव अर्थ हैं. यहाँ अगम्बेन द्वारा प्रतिपादित समकालीनता का विचार काफ़ी प्रासंगिक है. अगम्बेन बताते हैं कि वह व्यक्ति समकालीन है जो न केवल अपने वर्तमान समय की रोशनी को पहचानता है, बल्कि अपने दौर के अँरों से भी वाक़िफ़ है. दूसरे शब्दों में, अगम्बेन हमारी *वास्तविकता* के उस विरोधाभासी विचार को रेखांकित करते हैं जिससे हम वाक़िफ़ तो हैं पर *उसे जी नहीं सकते; जिसे हम महसूस तो करते हैं पर वह पूरी तरह से हमारे विमर्श में नहीं आ पाता*। प्रथमा बनर्जी आगम्बेन के समकालीता से संबंधित विचार को *समय* पर चल रही बहस के संदर्भ में व्याख्यायित करती हैं। बनर्जी का मत है कि समकालीन का अर्थ उस न जी सकने वाली वास्तविकता से है जहाँ समय न तो आधुनिक होता है और न ही पूर्व-आधुनिक, यह वह समय है जो आधुनिकता की कहानी से बाहर है. देखें, प्रथमा बनर्जी (2009), 'आफ्टरवर्ड', सौरभ दुबे (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ मॉडर्निटी : मॉडर्न मेकओवर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 268; मैं बनर्जी की व्याख्या के संदर्भ में ही वास्तविकता में रहना जैसे मुहावरे का इस्तेमाल कर रहा हूँ। साथ ही देखें, जियार्जियो आगम्बेन (2009), *व्हाट इज़ ऐप्रेटस ऐंड अदर एसेज़,* स्टेनफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टेनफोर्ड.

[6] पाठ की संरचना और अर्थों का बनना जैसे विषयों पर उपलब्ध साहित्य हमें बताता है कि पाठ के अर्थ सिर्फ़ लेखक द्वारा ही नहीं तय किये जाते; बल्कि पाठक स्वयं अपने अर्थ बनाता है. अर्थों के बनाने की यह सतत प्रक्रिया पाठ को अपने संदर्भ से एक अपेक्षित स्वायत्तता दे देती है. इस तरह अर्थों का निर्माण पाठ को बदलते हुए समय और स्थान के अनुरूप हमेशा नयापन देता रहता है. परिणामस्वरूप पाठ/लेखक/पाठक का रिश्ता और उनकी वास्तविकता की समझ नये विरोधाभासों को जन्म देती है. पॉल रिकूर द्वारा प्रतिपादित *हरमेन्युटिकल आर्क* की अवधारणा इस विषय में उल्लेखनीय है. रिकूर बताते हैं कि पाठ को पढ़ने की प्रक्रिया में पाठक तीन चरणों से गुज़रता/ती है. पूर्व-विचारात्मक क्षण, व्याख्यात्मक क्षण तथा अर्थ के आत्मसातीकरण का क्षण. इन तीनों क्षणों से अर्थ-निर्माण का एक आर्क बनता है. देखें पॉल रिकर (1981), *हरम्यूनेटिक्स ऐंड द ह्यूमन साइंसिज़ : एसेज़ ऑन लेंग्वेज़, एक्शन ऐंड इंटरप्रिटेशन* (सम्पा. और अनु. जॉन बी. थाम्पसन), कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज़.

यह रुष्टता न तो पश्चिमी उदारतावादी राजनीतिक परम्परा की शब्दावली में कही जाने वाली नागरिक शिकायत है और न ही यह मार्क्सवादी परम्परा में प्रचलित सर्वहारा चेतना है।

हुकूमत जैसे लोकप्रिय विचारों के बीच द्वन्द्व को दर्शाते हैं। मंटो द्वारा मंगू ताँगे वाले का परिचय और उसकी राजनीतिक समझ का खाका कहानी को महज़ एक भूमिका ही नहीं देता, बल्कि पाठक को उस संदर्भ से भी रूबरू करता है जिसके तहत यह घटनाक्रम चल रहा है। यही इस कहानी का पहला निर्णायक क्षण भी है।

कहानी का मुख्य पात्र मंगू कोचवान जानता है कि हिंदुस्तान में एक अप्रैल से एक नया क़ानून आने वाला है। यह ख़बर उसे एक दिन अचानक मिलती है। उसके ताँगे में बैठे दो व्यक्ति आपस में बात कर रहे थे कि नये क़ानून से मुल्क में काफ़ी बदलाव होगा। मंगू उनकी सारी बात तो नहीं समझ सका, पर उसे इस बात का यक़ीन हो गया कि अब अंग्रेज़ जाने वाले हैं और उनके जाने की वजह वह नया क़ानून है जो अगले महीने से लागू हो जाएगा।

वह उत्साहित है। उसे लगता है नये क़ानून के आने से सारी व्यवस्था बदल जाएगी। लेकिन मंगू भी ज़्यादातर भारतीयों की तरह नये क़ानून की बारीकियों से वाक़िफ़ नहीं है। यहाँ उल्लेखनीय है कि इस कहानी में मंटो ने मंगू की क़ानून संबंधी समझ रेखांकित करने का काम उसकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी के हालात के ज़रिये किया है। हमें बताया जाता है कि मंगू को अंग्रेज़ों से नफ़रत है। इस नफ़रत का कारण कोई आदर्शवादी राष्ट्रभक्ति नहीं है, बल्कि अंग्रेज़ों का मंगू के प्रति अभद्र व्यवहार है। अंग्रेज़ ताँगे वालों से अक्सर बदतमीजी से बात करते हैं और उन्हें पूरा किराया भी नहीं देते। जब कभी कोई ताँगे वाला उनसे जिरह करता है तो उसकी जम कर पिटायी होती है। इस तरह मंगू के लिए ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे दमनकारी स्वरूप शहर में रहने वाले अंग्रेज़ अधिकारियों का व्यवहार है।

मंगू के पास स्वत: विकसित कुछ दिलचस्प तर्क हैं। मंगू को यक़ीन है कि अंग्रेज़ों की हुकूमत की वजह रूहानी शाप है। उसे यह पता है कि एक बार बादशाह अकबर ने एक फ़क़ीर की बेइज़्ज़ती की थी। उस फ़क़ीर ने अकबर को बद्दुआ दी थी कि तेरे हिंदुस्तान में हिंदू और मुसलमान लड़ते रहेंगे और यह मुल्क हमेशा किसी न किसी बाहरी मुल्क का ग़ुलाम रहेगा। मंगू जानता है कि यह इस बद्दुआ का ही नतीजा है कि अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान पर क़ब्ज़ा कर रखा है। मंगू को यक़ीन है कि अगर अंग्रेज़ चले भी जाएँगे तो कोई और आकर हिंदुस्तान पर हुकूमत करने लगेगा।

मंगू की यह आस्था लोकप्रिय कहानियों, स्मृतियों, किंवदंतियों और यहाँ तक कि भारत के औपनिवेशिक इतिहास की समझ का एक दिलचस्प मिश्रण है। इन तथ्यों में अकबर एक विदेशी हुक्मराँ न हो कर एक मूल हिन्दुस्तानी शासक है; हिंदू-मुस्लिम दंगे एक बद्दुआ का नतीजा हैं; और ब्रिटिश शासन एक तयशुदा घटना, जिसे होना ही था! इस तरह मंगू ने एक ऐसी काल्पनिक राजनीतिक दुनिया रच रखी है जिसमें उसके अपने निजी असंतोष किन्हीं मायनों में अंग्रेज़ों के प्रति उसे रुष्ट बना रहे हैं। लेकिन यह रुष्टता न तो पश्चिमी उदारतावादी राजनीतिक परम्परा की शब्दावली में कही जाने वाली नागरिक शिकायत है और न ही यह मार्क्सवादी परम्परा में प्रचलित सर्वहारा चेतना है।

मंगू की ज़िंदगी में नये क़ानून का विचार आते ही कहानी का दूसरा निर्णायक क्षण शुरू होता है। इस बात का पता लगते ही कि अब मुल्क में नया क़ानून आने वाला है, मंगू को एक अजब सा अहसास

होता है— वह ख़ुश है, वह उत्साहित है और इस बात को अपने जानने वाले हर एक शख़्स को बताना चाहता है। मंटो लिखते हैं :

> शाम को जब वह अड्डे को लौटा तो ख़िलाफ़े-मामूल उसे वहाँ अपनी जान-पहचान का कोई आदमी न मिल सका। उसके सीने में एक अजीबो-ग़रीब तूफ़ान बरपा हो गया; वह एक बड़ी ख़बर दोस्तों को सुनाने वाला था, बहुत बड़ी ख़बर और उस ख़बर को वह अपने अंदर से बाहर निकालने के लिए सख़्त मजबूर हो रहा था, लेकिन अड्डे में कोई था ही नहीं।

मंगू का उत्साह न सिर्फ़ कहानी को एक रफ़्तार देता है बल्कि एक पात्र के तौर पर मंगू को राजनीतिक एजेंसी में भी बदल देता है। अब तक जो मंगू सिर्फ़ काल्पनिक विचारों से निर्मित राजनीतिक दुनिया में अपने सवालों के जवाब तलाश कर रहा था, उसका सामना एक नयी सियासी सच्चाई से हो चुका है। मंगू नये क़ानून के लागू होने की प्रक्रिया से वाक़िफ़ नहीं है; वह नये क़ानून के लिए होने वाले किसी भी आंदोलन का हिस्सा नहीं बनने वाला है; लेकिन इस सब के बावजूद मंगू का उत्साह उसे उसके ही द्वारा बनाये गये राजनीतिक अर्थों को नये सिरे से पुनर्निर्मित करने के लिए बाध्य कर रहा है।

मंगू की लगन उसे नये क़ानून के बारे में और अधिक जानकारी हासिल करने की प्रेरणा देती है। वह अपने ताँगे में बैठने वाले तमाम तरह के लोगों की बातों को ध्यान से सुनना शुरू करता है। इन बातों से, जो वह सिर्फ़ सुनता है, नये क़ानून के बारे उसकी राय पुख़्ता होती चली जाती है। इस राय के आधार पर मंगू अपने राजनीतिक दोस्त और दुश्मनों की पहचान भी शुरू कर देता है। मंटो लिखते हैं :

> एक रोज़ उसके ताँगे में दो बैरिस्टर बैठे। नये आईने पर बड़े ज़ोर से तन्क़ीद कर रहे थे और वह ख़ामोशी से उनकी बातें सुन रहा था।
>
> एक बैरिस्टर दूसरे बैरिस्टर से कह रहा था : जदीद आईन का दूसरा हिस्सा फ़ैडरेशन है, जो मेरी समझ में अभी तक नहीं आया... ऐसी फ़ैडरेशन दुनिया की तारीख़ में आज तक न सुनी गयी है, न देखी गयी है.. सियासी नज़रिये के एतबार से भी यह फ़ैडरेशन बिल्कुल ग़लत है, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि यह फ़ैडरेशन है ही नहीं।
>
> इसके बाद उन बैरिस्टरों के दरमियान जो गुफ़्तुगू हुई, उसमें बेशतर अल्फ़ाज़ अंग्रेज़ी के थे, इसलिए उस्ताद मंगू कुछ ख़ास न समझ सका; उसने ख़याल किया कि वह लोग हिन्दुस्तान में नये क़ानून की आमद को बुरा समझते हैं और नहीं चाहते कि उनका वतन आज़ाद हो; इसी ख़याल के ज़ेरे-असर उसने कई मरतबा उन दोनों बैरिस्टरों को हिक़ारत की निगाहों से देखा और अपने दिल ही दिल में कहा : टोडी बच्चे!

नये क़ानून के दुश्मनों के प्रति मंगू की नफ़रत उसे नये क़ानून का एक बड़ा समर्थक बना देती है। लेकिन मंगू का इस राजनीतिक विमर्श में प्रवेश उसे एक ख़ास क़िस्म का वंचित या मज़लूम भी बना रहा है। एक तरफ मंगू नये क़ानून को एक आध्यात्मिक दर्जा दे चुका है। उसके लिए नया क़ानून महज़ एक क़ानून नहीं है बल्कि तमाम परेशानियों का अंत करने का एक पवित्र ज़रिया भी है। दूसरी तरफ मंगू के पास अपने नये क़ानून को स्पष्ट करने के तर्क नहीं हैं। उसके पुराने तर्क उसके नये उत्साह और उम्मीद के साथ चल नहीं सकते और उसका सीमित ज्ञान उसे नये जवाब बनाने में कोई मदद नहीं कर सकता। इस तरह मंगू एक ऐसा मज़लूम है जो राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा बनने का ख़्वाहिशमंद तो है पर यह नहीं जानता कि इस सियासत का कौन सा सिरा उसकी ज़िंदगी से जुड़ता है। यही वजह है कि कहानी के इस आयाम तक आते-आते मंगू सियासत का सिर्फ़ एक उत्साही पर्यवेक्षक ही बन पाता है— राजनीतिक अमल करने की न तो उसमें क्षमता है और न ही उसकी समझ।

कहानी के तीसरे और अंतिम निर्णायक क्षण में मंगू अपनी उस विचित्र उदासीनता, जिससे वह

स्वयं असंतुष्ट है, बाहर निकलने की जद्दोजहद में लग जाता है, क्योंकि वह अब तक अपने को सिर्फ़ एक उत्साही पर्यवेक्षक मान रहा था इसलिए अप्रैल की पहली तारीख़ मंगू के लिए एक उत्सव जैसी थी। वह इस दिन शहर में होने वाली हर एक घटना, हर जलसा, हर एक तक़रीब को अपनी आँखों में क़ैद कर लेना चाहता था। मंटो लिखते हैं :

> आख़िरकार मार्च के इकत्तीस दिन ख़त्म हो गये और अप्रैल के शुरू होने में रात के चंद घंटे बाक़ी रह गये। मौसम ख़िलाफ़े-मामूल सर्द था और हवा में ताज़गी थी।...पहली अप्रैल को सुबह सवेरे उस्ताद मंगू उठा और अस्तबल में जाकर उसने ताँगे में घोड़े को जोता और बाहर निकल आया।
>
> उसकी तबीयत ग़ैरमामूली तौर पर मसरूर थी— वह नये क़ानून को देखने वाला था। उसने सुबह के सर्द धुँधलके में कई तंग और खुले बाज़ारों का चक्कर लगाया, मगर उसे हर चीज़ पुरानी नज़र आयी, आसमान की तरह पुरानी— उसकी निगाहें ख़ास तौर पर नया रंग देखना चाहती थीं, मगर सिवाय उस कलग़ी के जो रंग-बिरंगे परों से बनी थी और उसके घोड़े के सिर पर जमी हुई थी, और सब चीज़ें पुरानी नज़र आ रही थीं; वह नयी कलग़ी उसने नये क़ानून की ख़ुशी में इकत्तीस मार्च को चौधरी ख़ुदाबख़्श से साढ़े चौदह आने में ख़रीदी थी।
>
> घोड़े के टापों की आवाज़, काली सड़क, थोड़े-थोड़े फ़ासलों पर खड़े बिजली के खंबे, दुकानों के बोर्ड, उसके घोड़े के गले में पड़े हुए घुँघरुओं की झनझनाहट, बाज़ारों में चलते-फिरते लोग।... इनमें कौन-सी चीज़ नयी थी; ज़ाहिर है, कोई भी नहीं; लेकिन उस्ताद मंगू मायूस नहीं था।

मंगू की उम्मीदें पूरी नहीं होती हैं। जान-पहचान की हर जगह घूमने के बाद भी जब मंगू को कोई नयापन नज़र नहीं आता तो उसे खीज होती है। उसी वक़्त उसे एक अंग्रेज़ आता दिखता है। यह वही अंग्रेज़ है जिससे कुछ दिनों पहले मंगू की झड़प हुई थी। मंगू अंग्रेज़ पर नये क़ानून का रुआब दिखाने के लिए आम किराये से ज़्यादा किराया माँगता है। इस पर दोनों में तक़रार होती है। मंगू की अंग्रेज़ों के लिए पहले मौजूद नफ़रत, नये क़ानून के प्रति लोगों की उदासीनता और मंगू की खीज— सब मिल कर मंगू को नये क़ानून के लिए सियासी अमल की प्रेरणा देते हैं, और परिणामस्वरूप मंगू अंग्रेज़ को पीटने लगता है। दिलचस्प बात यह है कि इस पूरी लड़ाई में वो नया क़ानून, नया क़ानून चिल्लाता रहता है।

> गोरे की चीखों-पुकारों ने उस्ताद मंगू की बाँहों का काम और भी तेज़ कर दिया— वह गोरे को जी भर के पीट रहा था और साथ-साथ यह कहता जाता था : पहली अप्रैल को भी वही अकड़-फूँ... पहली अप्रैल को भी अकड़-फूँ...अब हमारा राज है बच्चा...!
>
> ...पुलिस के दो सिपाहियों ने बड़ी मुश्किल से गोरे को उस्ताद मंगू की गिरफ़्त से छुड़ाया। उस्ताद मंगू दो सिपाहियों के दरमियान खड़ा था; उसकी चौड़ी छाती फूली हुई साँस की वजह से ऊपर-नीचे हो रही थी, मुँह से झाग बह रहा था; वह अपनी फैली हुई आँखों से हैरतज़दा हुजूम की तरफ़ देखते हुए हाँफती हुई आवाज़ में कह रहा था : वह दिन गुज़र गये, जब ख़लील ख़ाँ फ़ाख़्ता उड़ाया करते थे... अब नया क़ानून है मियाँ... नया क़ानून! और बेचारा गोरा अपने बिगड़े हुए चेहरे के साथ बेवक़ूफ़ों की मानिंद कभी उस्ताद मंगू की तरफ़ देख रहा था और कभी हुजूम की तरफ़।
>
> उस्ताद मंगू को पुलिस के सिपाही थाने में ले गये।
>
> रास्ते में और थाने के अंदर भी वह नया क़ानून, नया क़ानून चिल्लाता रहा, मगर किसी ने एक न सुनी।
>
> नया क़ानून, नया क़ानून, क्या बक रहे हो... क़ानून वही है पुराना! और उसको हवालात में बंद कर दिया गया।

मंगू की नये क़ानून की दलील, और अंत तक उसका मायूस न होना हमें मंगू का उत्साह याद

दिलाता है। लेकिन उससे भी बड़ी बात है आधुनिक राजनीतिक अर्थों का बदलता स्वरूप। मंगू मायूस इसलिए नहीं है क्योंकि उसे लगता है कि बस कुछ ही देर में वह उस ऐतिहासिक सच से रूबरू होगा जो उसकी ही नहीं सारे मुल्क की तस्वीर बदल देगा। यह उम्मीद उस ठहरी हुई समझ से अलग है जिसके सहारे मंगू अपने सवालों के जवाब तलाश किया करता था।

III

राष्ट्रवाद की तवायफ़ें : *1919 की एक बात*

यह कहानी मंटो की विभाजन के बाद लिखी गयी कहानियों में से एक है। आलोक भल्ला ने इस कहानी की एक दिलचस्प व्याख्या की है। भल्ला का तर्क है कि मंटो इस कहानी के ज़रिये 1919 के अमृतसर के सियासी हालात को, ख़ास कर हिंदुस्तनियों द्वारा अंग्रेज़ों के विरोध को, 1955 में (जबकि विभाजन हो चुका है और मंटो ख़ुद पाकिस्तान में हैं) पुनः रेखांकित करते हैं। यह रेखांकन न सिर्फ़ इतिहास को टटोलने का है, बल्कि इस प्रयास में एक राजनीतिक कटाक्ष भी घुला-मिला है।[7] मैं भल्ला के तर्क से सहमत हूँ। परंतु मैं इस कहानी को इसके संदर्भ के साथ-साथ इसके शिल्प के दृष्टिकोण से भी पढ़ना चाहता हूँ।

यह कहानी एक रेल यात्रा के दौरान दो मुसाफ़िरों की आपसी बातचीत पर आधारित है। पहला यात्री दूसरे यात्री को 1919 में अमृतसर में हुई एक घटना सुनाता है। दोनों की बातचीत से लगता है कि सुनाने वाला मूल वक्ता है और सुनने वाला मूलतः एक श्रोता। दोनों का संदर्भ रेल यात्रा है— एक वर्तमान जो स्थिर नहीं है। इस बातचीत में हमें यह भी पता लगता है वक्ता शायद मुसलमान है, क्योंकि वह बार-बार भाई जान, भाई जान कह कर बात कर रहा है। कहानी में दो दिलचस्प मुक़ाम हैं : एक भूमिका और दूसरा क्लाइमेक्स।

1919 के अमृतसर को याद करते हुए वक्ता बताता है कि तब का सियासी माहौल काफ़ी गर्म था। लोग राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय थे और अपने लीडरों की बात को बहुत मानते थे। यही वजह थी कि अमृतसर राजनीति का केंद्र बन चुका था। इसका नतीजा यह हुआ कि सूबे की सरकार का रुख सख़्त होता चला गया : गाँधीजी को सूबे में दाख़िल होने से रोक दिया गया, मज़हबी जलसों पर पाबंदी लगा दी गयी, और हर इस तरह की ऐसी सार्वजनिक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया जो ब्रिटिश विरोधी हो सकती थीं, या मानी जा सकती थीं। ऐसे दहशत के माहौल में एक शांतिपूर्ण सभा को अंग्रेज़ों ने हिंसक तरीक़े से तितर-बितर कर दिया। लोगों का गुस्सा बढ़ गया और भीड़ ने भी पुलिस को हिंसक जवाब दिया। परिणामस्वरूप पुलिस और जनता के बीच एक बड़ा दंगा हुआ।

वक्ता की यह सीधी सी भूमिका न सिर्फ़ हमें अमृतसर के तत्कालीन राजनीतिक हालात से वाक़िफ़ कराती है बल्कि हमें यह भी पता लगता है कि राजनीतिक अमल को स्मृतियों के तौर पर कैसे याद किया जाता है। वक्ता का आज अनिश्चित है। रेल की रफ़्तार की तरह उसका आज भी बदल रहा है। इस बदलते आज के नज़रिये से वह बदलते इतिहास की स्थिर तस्वीर का खाका खींचने की नाकामयाब कोशिश कर रहा है। इस बदलते आज और बीते हुए कल के बीच स्थापित वक़्त की परिकल्पना का हरेक घुमाव कहानी में ज़ारी घटनाशीलता को एक विशेष तरह की गतिशील

---

[7] आलोक भल्ला (1996). 'डांस ऑफ़ ग्रोटेस्क मास्क्स? : अ क्रिटिकल रीडिंग ऑफ़ मंटोज ''1919 की एक बात''', *द एनुअल ऑफ़ उर्दू स्टडीज़*, खंड 11.

अस्थिरता दे रहा है।

इस मुक़ाम पर पाठक का परिचय 1919 की घटना के मुख्य पात्र थैला कंजर से होता है। थैला शहर की सबसे मशहूर तवायफ़ का भाई है। वक्ता के अनुसार :

> वह थैला कंजर था; उसका नाम मुहम्मद तुफ़ैल था, मगर वह थैला कंजर के नाम से मशहूर था, इसलिए कि वह एक तावयफ़ के बत्न से था... वह बड़ा आवारागर्द था; छोटी उम्र ही में उसको जुए और शराबनोशी की लत पड़ गयी थी... उसकी दो बहनें, शमशाद और अलमास, अपने वक़्त की हसीन-तरीन तवायफ़ें थीं; शमशाद का गला बहुत अच्छा था; उसका मुजरा सुनने के लिए रईस बड़ी-बड़ी दूर से आते थे... दोनों बहनें अपने भाई की करतूतों से बहुत नालाँ थीं; शहर में मशहूर था कि दोनों ने एक तरह से अपने भाई को आक़ कर रखा है; फिर भी वह किसी न किसी हीले से अपनी ज़रूरियात के लिए अपनी बहनों से कुछ न कुछ वसूल कर ही लेता था... वैसे वह बहुत ख़ुशपोश रहता था; अच्छा खाता था, अच्छा पीता था; वह बड़ा नफ़ासतपसंद था, बुज़्लासंजी और लतीफ़ागोई उसके मिज़ाज में कूट-कूट के भरी हुई थी; मीरासियों और भाँड़ों के सूक़ियानापन से वह बहुत दूर रहता था, लम्बा क़द, भरे-भरे हाथ-पाँव, मज़बूत कसरती बदन; नाक-नक़्शे का भी वह ख़ासा था।

थैला के इस पुरज़ोर परिचय के बाद वक्ता 1919 की घटना के बारे में श्रोता को सविस्तार बताता है। हमें पता चलता है जब अंग्रेज़ पुलिस ने लोगों की भीड़ को तितर-बितर कर दिया तब कुछ नौजवान, जिनमें वक्ता भी शामिल था, अंग्रेज़ों को मुँह तोड़ जवाब देने के मनसूबे बनाने लगे। जब रानी की मूर्ति तोड़ने या अंग्रेज़ों का झंडा जलाने जैसी तज्वीज़े की जा रही थीं, थैला ने आगे बढ़ कर सुझाव दिया कि जिन सिपाहियों ने भीड़ पर गोली चलायी है उन पर हमला करना चाहिए। इस प्रस्ताव का समर्थन हुआ और थैला के नेतृत्व में अंग्रेज़ सिपाहियों पर हमला बोल दिया गया। इस एकतरफ़ा की मुठभेड़ में थैला मारा गया। थैला की मौत का दूरगामी प्रभाव पड़ा। पूरा शहर थैला की मौत पर ग़मगीन हो उठा। यहाँ तक कि उसे *शहीद थैला* कहा जाने लगा। थैला के बलिदान का वक्ता पर भी ख़ासा प्रभाव हुआ। उसकी नज़र में थैला इंक़िलाब का प्रतीक है। वक्ता कहता है :

> मैंने कहीं पढ़ा है कि फ्रांस के इंक़िलाब में पहली गोली वहाँ की एक टकयाई रंडी को लगी थी... मरहूम थैला, यानी मुहम्मद तुफ़ैल एक तवायफ़ का लड़का था; इंक़िलाब की उस जद्दोजहद में पहली गोली, जो थैले को लगी, वह गोली दसवीं थी या पचासवीं, इसके मुताल्लिक़ किसी ने तहक़ीक नहीं की है, शायद इसलिए कि समाज में उस ग़रीब का कोई रुतबा नहीं था; मैं समझता हूँ कि पंजाब के उस ख़ूनी ग़ुस्ल में नहाने वालों की फ़ेहिरस्त में थैले कंजर का नामो-निशान तक भी न होगा; और यह भी कौन जानता है कि ऐसी कोई फ़ेहरिस्त कभी बनायी भी गयी थी।...

अब तक के घटनाक्रम को राष्ट्रवाद की एक आम कहानी के तौर पर भी पढ़ा जा सकता है— मुल्क और क़ौम पर बलिदान होने वाले शहीद की दास्ताँ के तौर पर या फिर राष्ट्रवाद की सार्वभौमिकता के तौर पर। परंतु कथानक की अस्थिरता इस कहानी को एक मानक राष्ट्रवादी कहानी होने से बचा लेती है। वक्ता अपनी बात फिर शुरू करता है और बताता है कि थैला की मौत के दो दिन के भीतर ही उसकी बहनों को अंग्रेज़ अफ़सरों ने मुजरा करने के लिए बुलाया। वक्ता के अनुसार अंग्रेज़ चाहते थे कि थैला की बहनों को बेइज़्ज़त करके पूरे शहर बल्कि हिन्दुस्तानी अवाम को ज़लील किया जाये। थैला की बहनें मुजरा करने गयीं। वक्ता के मुताबिक :

> फिर उन्होंने अपनी ज़र्क-बर्क़ पोशाकें नोच डालीं और आलिफ़ नंगी हो गयीं और कहने लगीं : लो हमें देख लो... हम थैले की बहनें हैं... उस शहीद की बहनें, जिसके ख़ूबसूरत जिस्म को तुमने सिर्फ़ इसलिए अपनी गोलियों से छलनी-छलनी किया था कि उस जिस्म में अपने वतन से मुहब्बत

> करने वाली रूह बसी हुई थी... हम उसी थैले की ख़ूबसूरत बहनें हैं... आओ और अपनी वहशत के गर्म-गर्म लोहे से हमारा ख़ुशबूओं में बसा हुआ जिस्म दाग़दार करो... मगर ऐसा करने से पहले सिर्फ़ हमें एक-बार अपने मुँह पर थूक लेने दो...।

श्रोता जो अब तक इस घटनाक्रम को तन्मयता से सुन रहा था, थोड़ा और उत्सुक हो गया। उसने वक्ता को ग़ौर से देखा और बिना कुछ बोले इशारतन आगे के हालात जानने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की। वक्ता कुछ ख़ामोश रहा और फिर रुक कर बोला : *उनको...उनको गोली से उड़ा दिया गया... ।* इस निष्कर्ष से श्रोता बिल्कुल भी निश्चिंत नहीं हुआ। उसने पहली बार असहमति ज़ाहिर की। तब तक ट्रेन रुक चुकी थी और वे दोनों उस गतिशील माहौल से निकल अपेक्षाकृत कम गतिवान प्लेटफ़ार्म पर आ चुके थे। यही कहानी का क्लाइमेक्स है। मंटो लिखते हैं :

> ट्रेन स्टेशन में दाख़िल हो चुकी थी—जब ट्रेन रुक गयी तो उसने एक कुली को बुला कर अपना असबाब उठवाया; जब वह जाने लगा तो मैंने उससे कहा : आपने जो दास्तान सुनायी है, उसका अंजाम मुझे आपका ख़ुदसाख़्ता मालूम होता है। मेरे हमसफ़र ने अपने हलक की तल्ख़ी थूक के साथ निगलते हुए कहा : जी हाँ उन हराम... वो गाली देते देते रुक गया। ... उन्होंने अपने शहीद भाई के नाम पर बट्टा लगा दिया।

मंटो की यह कहानी वास्तव में दो वास्तविकताओं, दो कालों, और दो निष्कर्षों का मिश्रण है—दोनों वास्तविकताएँ सतत गतिमान हैं और यही वजह है कि वक्ता और श्रोता, कहानी के पात्र होने के नाते किसी भी तयशुदा वर्तमान और इतिहास की परिकल्पना से बच रहे हैं। यहाँ तक कि कहानी के दोनों निष्कर्ष भी एक दूसरे से बिल्कुल विपरीत हैं।

IV

कहानी की बुनावट और बौद्धिक राजनीति

आइए, इन कहानियों के तीन सम्भव लेकिन विरोधाभासी अर्थों पर चर्चा करें। मंगू की *नया क़ानून* देखने की नाकामयाब ख़्वाइश और थैला की बहनों द्वारा उसकी शाहादत का बदला न लेना, राजनीति को विचारधारा का औज़ार मानने वालों के दृष्टिकोण से विफलताएँ क़रार दी जा सकती हैं। यह कहा जा सकता है मंगू का काल्पनिक राष्ट्रवाद उसे नया क़ानून नहीं दिखा सका और थैला का बलिदान उसकी अपनी ही ख़ुदग़र्ज़ बहनों में इतना भी साहस पैदा न कर सका कि वे अपने ही भाई के क़त्ल का बदला ले सकें। इन कहानियों की दूसरी व्याख्या यथार्थवादी हो सकती है। मंगू की सियासी दुनिया का ज्यों का त्यों बना रहना और थैला की बहनों का अपने मुजरे के कारोबार का यथावत ज़ारी रखना, ऐसे सम्भव उदाहरण बन सकते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि दुनिया बदलने की तमाम बातें ख़्वाबी हैं और बेहतर समाज बनाने की परिकल्पना महज़ आदर्शवादी है। इन कहानियों की तीसरी समझ थोड़ी नयी है। यह सम्भव है कि कुछ शोधार्थी मंगू और थैला की बहनों को ऐसे सबाल्टर्न पात्र का दर्जा दे दें जिनकी चीखें, जिनका पुरज़ोर नाच-गाना, उनके भीतर की मज़लूम चुप्पी को छुपाने के बहाने बन जाएँ, क्योंकि सबाल्टर्न बोल नहीं सकता!

मेरा मत है कि विचारधारावाद, यथार्थवाद और सबाल्टर्नवाद में लिप्त ये तीनों सम्भव व्याख्याएँ पात्रों के क्रियाकलापों पर आधारित हैं। *पात्रों ने क्या किया, क्या नहीं किया, जो किया वह क्यों किया या उन्हें क्या करना चाहिए था,* जैसे सवाल ऐसे पैमाने हैं जिनके ज़रिये कहानी में मौजूद राजनीति व्याख्यायित हो रही है। अगर हम इन कहानियों को पात्र-केंद्रित होकर पढ़ेंगे तो सम्भव है कि हम मंटो के पात्रों की विफलताओं को, उनकी उदासीनता को मंटो की राजनीति मान कर यह निष्कर्ष

निकाल लेंगे कि मंटो स्वयं को इतना नाकामयाब मानते थे कि उसके पात्र भी सपनों के प्रति उदासीन हो चले थे। कुछ लोग ऐसा कह भी सकते हैं, क्योंकि मंटो की सियासत के बारे में निजी राय बहुत अच्छी नहीं थी। मैं इस बहस में नहीं जाना चाहता कि मंटो से उनकी राजनीति पूछ कर उसे हमेशा के लिए मार्क्सवादी, सबाल्टर्न या यथार्थवादी लेखक बना दिया जाये। ऐसा करने से हम मंटो की कहानियों की अपनी स्वायत्तता के साथ अन्याय करेंगे।

मैं मंटो की सियासत की समझ और उसकी कहानियों में गुँथी हुई राजनीति में फ़र्क़ करता हूँ। मेरे लिए मंटो की कहानी उसके तर्क को जानने का उपलब्ध साधन है। मेरी रुचि यह जानने में ज़्यादा है कि क्या मंटो इन दो कहानियों में मौजूद समाज की जटिलताओं को दर्शाते हुए किसी ऐसे तर्क की तलाश में हैं जिसके माध्यम से आलोचना, व्यंग्य और उदासीनता महज़ कटाक्ष न हो कर रचनात्मक हो सके? इस पहलू का विश्लेषण करने के लिए मैं इन दोनों कहानियों के शिल्प की तीन परतों को कुरेदने की कोशिश करूँगा : कहानी में तर्क का स्थान, तर्क का प्रस्तुतिकरण, तर्क और विधा का विरोधाभास।

कहानी में तर्क का स्थान

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी घटना से कहानी बनने की प्रक्रिया की बात करते हुए कहते हैं :

> जब कोई एक घटना हमारे मानवीय सरोकारों से रिश्ता क़ायम करने में कामयाब हो जाती है तब उस घटना का कहानी में तब्दील होना मुमकिन हो जाता है। लेकिन घटना/कहानी का हमसे बनने वाला यह रिश्ता तभी सम्भव हो सकता है जब हम अपने तक पुहँची कहानी से कोई अर्थपूर्ण नतीजा निकाल सकें।... अर्थपूर्ण नतीजे से आशय कहानी के उस मायने से हैं जो हमें सोचने के लिए मजबूर करे; जो हमारे लिए निश्चित अर्थ तय न करे बल्कि हमें मजबूर करे कि हम ख़ुद कहानी के अर्थों के बारे अपने फ़ैसले करें।... इस तरह कहानी एक ही वक़्त में वास्तविक और अवास्तविक, दोनों है।[8]

फ़ारूक़ी का यह सुझाव हमें मंटो की कहानियों में तर्क के मायने तलाशने में मदद करता है। यहाँ तर्क से हमारा आशय किसी तयशुदा अर्थ से नहीं है। कहानी में उस मुक़ाम का आना, जहाँ पूरे घटनाक्रम से कोई नतीजा निकाला जा सके, तर्क कहा जा सकता है। *नया क़ानून* कहानी का अंत वह बिंदु है जहाँ मंगू की काल्पनिक समझ वास्तविकता से टकराती है। मंटो हमें यहाँ कोई नतीजा नहीं थमा रहे, वे कहानी का अंत एक सवाल से कर रहे हैं, जिसके बहुत से मायने निकाले जा सकते हैं। यह एक ख़ास क़िस्म का तार्किक खुलापन है जिसके ज़रिये हमें मजबूर किया जा रहा है हम अपने मायने गढ़ सकें। यह पहलू 1919 की एक बात में और भी नुमायाँ होकर सामने आता है। इस कहानी के अंत में पाठक के सम्मुख एक नहीं बल्कि दो, और वह भी बिल्कुल विपरीत, प्रश्न रखे जाते हैं— थैला की बहनों का थैला के क़त्ल को मजबूरन भुला देना, क्योंकि यह उनके बस के बाहर की बात थी, या फिर थैला की बहनों का ख़ुदग़र्ज़ तवायफ़ होना। फ़ारूक़ी के शब्दों में कहें तो दोनों सवाल हमें मजबूर कर रहे हैं कि *कहानी को एक ही वक़्त में वास्तविक और अवास्तविक, दोनों रूपों में समझा जाए।* मंटो कहानी का अंत किसी निर्णायक सत्य के आविष्कार से नहीं करते बल्कि उनका अंत एक नये सवाल को जन्म देता है। मेरा मानना है कि विचारधारावाद, यथार्थवाद और सबाल्टर्नवाद

[8] शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2009).

की जिन तीन व्याख्याओं का ज़िक्र ऊपर किया गया, वे मंटो की इसी लेखकीय कारीगरी के कारण सम्भव हो पाती हैं। ये व्याख्याएँ न तो सतही हैं, और ना ही अनुचित। लेकिन सभी सम्भव अर्थों की तरह ये व्याख्याएँ भी सीमित हैं।[9]

तर्क का प्रस्तुतिकरण

कहानी में तार्किक खुलापन लाने और तर्क को विचारधारात्मकता की निर्णायकता से बचाने के लिए ज़रूरी है भाषा का सटीक होना। मंटो के भाषा के साथ प्रयोग इस संबंध में उल्लेखनीय हो जाते हैं। मंटो की दिलचस्पी न सिर्फ़ इस बात में है कि पात्र कुछ कहे, परन्तु वे इसके लिए भी सजग हैं कि चुप्पी का क्या महत्त्व है। 1919 की एक बात का अंतिम अनुच्छेद इस मामले में बेहद प्रासंगिक है। मंटो वक्ता के चेहरे के तास्सुरात बयाँ कर रहे हैं, ख़ास कर उन हालातों में जबकि वह ख़ामोश है :

> यह कहकर मेरा हमसफ़र ख़ामोश हो गया, कुछ इस तरह कि अब वह कुछ नहीं कहेगा।... उसकी आँखों में आँसू डबडबा आये : उनको... उनको गोली से उड़ा दिया गया... मैंने कुछ न कहा। मेरे हमसफ़र ने अपने हलक की तल्ख़ी थूक के साथ निगलते हुए कहा : जी हाँ उन हराम... वो गाली देते देते रुक गया। उन्होंने अपने शहीद भाई के नाम पर बट्टा लगा दिया।

यहाँ वक्ता के आँसू, श्रोता का अविश्वास, वक्ता का गाली देते-देते रुक जाना, भाषा का जो चमत्कार पैदा कर रहे हैं, वह मानवीय संवेदनाओं के वे पक्ष हैं जिनके लिए भाषा अपने को प्रभावी बनाने के लिए चुप्पियों का सहारा लेती है। ये चुप्पियाँ न सिर्फ़ मंटो को अपने तर्क को सशक्त बनाने का अवसर देती हैं बल्कि उनके गद्य में अनूठी काव्यात्मकता भी ला देती हैं।

मंटो की मशहूर कहानी, *खोल दो* का क्लाइमेक्स इस संदर्भ में उद्धृत किया जा सकता है। *खोल दो* का मूल तर्क हिंसा के बलात्कारी स्वरूप के मानसिक प्रभावों को चरितार्थ करना है। मंटो लिखते हैं :

> डॉक्टर ने स्ट्रेचर पर पड़ी हुई लाश की नब्ज़ टटोली और सिराजुद्दीन से कहा, खिड़की खोल दो। सकीना के मुर्दा जिस्म में जुंबिश हुई। बेजान हाथों से उसने इज़ारबंद खोला और सलवार नीचे सरका दी। बूढ़ा सिराजुद्दीन खुशी से चिल्लाया, जिंदा है—मेरी बेटी जिंदा है। डॉक्टर सिर से पैर तक पसीने में ग़र्क़ हो गया।

यहाँ सकीना का सलवार खोलना, सिराजुद्दीन की ख़ुशी और डाक्टर की शर्मिंदगी, संवेदनशील एवं प्रभावी भाषा के ज़रिये पेश की गयी है। तीनों पात्रों की स्वत: होने वाली स्वाभाविक प्रतिक्रिया पाठक को तर्क की गहराई से परिचित कराती है। इसके साथ ही साथ मंटो को एक तीखे राजनीतिक वक्तव्य देने का मौक़ा भी मिलता है।

विधा और प्रस्तुत तर्क के विरोधाभास

अमीर मुख़्ती की राय है कि मंटो के मुख़्तसर अफ़साने अफ़सानानिगारी के फ़न के साथ उसकी जद्दोजहद को दिखाते हैं। मुख़्तसर अफ़साने के ज़रिये न सिर्फ़ मंटो लम्बी कहानी को

---

[9] यहाँ रवींद्रनाथ का उपन्यास *गोरा* प्रासंगिक हो जाता है। *गोरा* में रवींद्रनाथ का तात्पर्य कहानी के एक अन्य पात्र परेश बाबू, जो कि कहानी के नायक गोरा की विचारधारा का समर्थक नहीं है, द्वारा दिये जाने वाले तर्कों से स्पष्ट होता है। परंतु रवींद्रनाथ गोरा की विचारधारा और उसके तर्कों को कतई नज़रअंदाज़ नहीं करते, और गोरा के विचार भी पाठक तक समान गतिशीलता से पहुँचते हैं।

कहानी के लघु होने का अर्थ कथानक का संकुचित होना नहीं है। बल्कि कहानी की लघुता वास्तविकता की व्यापकता समेटने की दमदार कोशिश है। उदाहरण के लिए नया क़ानून का कथानक लघु कहानी की स्थापित विधा की बुनियाद को सीधे तौर पर नहीं छेड़ता।

एक शैलीगत चुनौती देते हैं, बल्कि अपने तर्कों को एक धारदार ज़ुबान भी मुहैया कराते हैं। इस तरह तर्क की गतिशीलता भी बरकरार रहती है और अफ़सानानिगारी जैसी साहित्यिक विधा की प्रयोगात्मकता भी विकसित होती है।[10]

यहाँ इस बात का उल्लेख करना ज़रुरी है कि मंटो की लघु कहानियाँ कतई तौर पर एपिसोडिक नहीं हैं। कहानी के लघु होने का अर्थ कथानक का संकुचित होना नहीं है। बल्कि कहानी की लघुता वास्तविकता की व्यापकता समेटने की दमदार कोशिश है। उदाहरण के लिए नया क़ानून का कथानक लघु कहानी की स्थापित विधा की बुनियाद को सीधे तौर पर नहीं छेड़ता। परंतु इस कहानी के भीतर चलने वाली गतिशीलता, मंटो को यह अवसर देती है कि वह मंगू के किरदार के उस पहलू में सारे रंग भर दे जो कहानी के घटनाक्रम को रफ़्तार दे रहे हैं। उदाहरण के लिए मंगू के उतावलेपन को बयान करने के लिए मंटो उसकी बीवी के प्रसव की घटना सुनाता है; हमें बताया जाता है कि मंगू को बदलाव देखने का चाव है इसलिए उससे कभी भी इंतज़ार नहीं होता। यह वक्तव्य एपिसोडिक नहीं है बल्कि मंगू के व्यक्तित्व की उल्लिखित पूर्णता दर्शाने की कोशिश है।

1919 एक बात का उदाहरण हमें तर्क-विधा के दूसरे पक्ष से परिचित करता है। हमें वक्ता और श्रोता का नाम नहीं पता, हमें यह भी नहीं पता कि वे दोनों किस जगह से किस जगह जा रहे है, यहाँ तक कि हमें यह भी नहीं पता कि उस समय तक 1919 को बीते कितने वर्ष हो चुके हैं। इस सबके बावजूद कहानी का कथानक अनैतिहासिक नहीं कहा जा सकता और न ही वक्ता के राष्ट्रवाद को नज़रअंदाज़ किया जा सकता है। मेरा मत है कि राष्ट्रवाद और संदर्भ को छुपा लेना एक विरोधाभास पैदा करते हैं, या मंटो स्वयं उन्हें पैदा करते हैं ताकि लघु कहानी के मानकों के साथ प्रयोग भी किये जा सकें और तार्किक खुलापन भी क़ायम रहे।

आइए, अब अपने बुनियादी सवाल पर लौटते हैं : मंटो की कहानी की अंदरूनी बुनावट में ऐसा क्या कुछ है जिसे बौद्धिक राजनीति कहा जा सकता है?

हमारी चर्चा यह दर्शाती है कि मंटो की कहानियों (मूल रूप से दो कहानियों— *नया क़ानून और 1919 की एक बात*) की आंतरिक संरचना इन्हें सियासी बनाती है। लेकिन यह राजनीति न तो साहित्य के लिए साहित्य रचने (या कहानी लिखने के लिए कहानी लिखने) जैसे मापदंडों से समझी जा सकती है, और न ही इसे लेखक के राजनीतिक रुझानों या उसके पात्रों के राजनीतिक झुकावों से समझा जा सकता है। यह राजनीति पाठक-कहानी और उनके संदर्भ से तय होती है। यहाँ कहानी के शब्द लेखक के नियंत्रण से आज़ाद हैं, और उन पाठकों तक भी पहुँच रहे हैं जिनका तसव्वुर लेखक ने कभी किया भी नहीं होगा।[11] लेकिन शब्दों की यह आज़ादी लेखक को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकती क्योंकि लेखक और पाठक दोनों शब्दों की इस यात्रा के हमसफ़र हैं।

---

[10] अमीर मुफ़्ती (2000).

[11] इस बिंदु की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें, ज़ाक रांसिएर (2004), 'दि पॉलिटिक्स ऑफ़ लिटरेचर', *सब्सटेंस,* खण्ड 33, अंक 1 : 103.

मंटो, मुझे लगता है कि इस बौद्धिक राजनीति से परिचित हैं। इसीलिए, वे यह ज़हमत उठाने को तैयार नहीं हैं कि अपनी राजनीति की कोई व्याख्या प्रस्तुत करें। उन्हें पता है कि अफ़सानानिगारी में इतनी ताक़त होती है वह अपनी सियासत ख़ुद रच सके। इसलिए यह ज़रूरी है कि मंटो से उनकी सियासत पूछने की आदत त्याग कर हम उसकी कृतियों का आलोचनात्मक विश्लेषण करें और देखें कि सियासत का अफ़साना कितनी ज़ुबानों में कितने तरह के लहजों में लिखा, सुना और पढ़ा जा सकता है। इसीलिए मेरा मत है कि मंटो की कहानी में तर्क के स्थान, उसके प्रस्तुतिकरण, विधा के साथ उसके विरोधाभास को हमारे विश्लेषण अवधारणात्मक औज़ार की तरह इस्तेमाल किया गया है। इसका संबंध हमारी अपनी समझ तक सीमित है। लेकिन यह औज़ार हमें संगठनात्मक राजनीति और बौद्धिक राजनीति के बीच अंतर करने में सहायता प्रदान कर सकता है।

संदर्भ

अमीर मुफ़्ती (2000), 'ए ग्रेटर स्टोरी राइटर देन गॉड : जॉनर, जेंडर, ऐंड मॉडर्निटी इन लेट कोलोनियल इंडिया', पार्थ चटर्जी और प्रदीप जगन्नाथन (सम्पा.), *सबाल्टर्न स्टडीज़ XI : कम्युनिटीज़, जेंडर ऐंड वायलेंस,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

आलोक भल्ला (1996), 'डांस ऑफ़ ग्रोटेस्क मास्क्स ? : अ क्रिटिकल रीडिंग ऑफ़ मंटोज़ ''1919 की एक बात''', द *एनुअल ऑफ़ उर्दू स्टडीज़,* खंड 11.

जियार्जियो आगम्बेन (2009), *व्हाट इज़ एप्रेटस ऐंड अदर एसेज़,* स्टेनफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, स्टेनफोर्ड।

ज़ाक रांसिएर (2004), 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ लिटरेचर', *सब्सटेंस,* खण्ड 33, अंक 1 : 103.

पॉल रिकूर (1981), *हरम्यूनेटिक्स ऐंड द ह्यूमन साइंसिज़ : एसेज़ ऑन लेंग्वेज़, एक्शन ऐंड इंटरप्रिटेशन* (सम्पा. और अनु. जॉन बी. थाम्पसन), कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

प्रथमा बनर्जी (2009), 'आफ्टरवर्ड', सौरभ दुबे (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ मॉडर्निटी : मॉडर्न मेकओवर,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

मंटो की कहानियों के सभी संदर्भों के लिए देखें : सआदत हसन मंटो, *दस्तावेज़,* खण्ड 1, 5, राजकमल, दिल्ली, 1993.

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी (2009), द *ट्रुथ ऑफ़ फिक्शंस,* (गोपीनाथ मोहंती मेमोरियल लेक्चर, भुवनेश्वर), नयी दिल्ली.

सज्जाद जहीर (1981), *रोशनाई का सफ़र,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली.